

एम. ए. चतुर्थ सेमेस्टर

द्वितीय प्रश्नपत्र(पाठालोचन)

हिन्दी पाठालोचन : इतिहास और विकास

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कवि के मूल पाठ का अनुसन्धान 'पाठालोचन' कहलाता है। पारिभाषिक शब्दावली में डॉ. पोस्टगेट के अनुसार '.....किसी रचना के मूल पाठ के स्वरूप— निर्धारण के प्रसंग में स्वीकृत, निपुण तथा विधि—विहित प्रक्रिया को 'पाठालोचन' कहते हैं।.....'पाठ' से हमारा तात्पर्य किसी भाषा में रचित ऐसे अर्थपूर्ण ग्रन्थ से है, जो अन्वेषक को न्यूनाधिक रूप में ज्ञात है और जिसके विषय में निष्चयात्मक रूप से कुछ कहा गया हो, या कहा जा सकता हो।¹ ऐसे में पाठालोचक के सामने उत्पन्न होने वाली समस्याओं के निराकरण के लिए भारत में जिस काल में पाठ निर्मित होते थे, उस काल से अब तक के इतिहास को जानना अनिवार्य है। हस्तलिखित ग्रंथों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि मुद्रण कला के आविष्कार के पूर्व भी विभिन्न स्रोतों से प्राप्त प्रतिलिपियों के आधार पर पाठालोचन का कार्य होता था, जो मुद्रण कला के आविष्कार के पश्चात प्राचीन ग्रंथों के मुद्रण के साथ—साथ चला, यद्यपि प्राचीन प्रतियों का संग्रह और उनको प्राप्त करने की कठिनाई इसमें सदा ही बाधक रही।

सुविदित है कि प्राचीन प्रतियों के समुचित संग्रह एवं सूचीकरण का प्रथम प्रयास सन् 1900 में नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रारंभ हुआ था। बाद में अनेक संस्थाओं ने इसे आगे बढ़ाया किन्तु अभी भी अनेक प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां इन संस्थाओं के साथ—साथ निजी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इसलिए विभिन्न विद्वानों द्वारा समय—समय पर पाठालोचन का कार्य किया जाता रहा जिसमें डॉ. सर जार्ज ग्रियर्सन का नाम महत्वपूर्ण है। इसी आधार पर पाठालोचन के इतिहास को प्रारंभ से लेकर अब तक डॉ. कन्हैया सिंह ने पांच भागों में विभक्त किया ² —

1. मुद्रण पूर्व— काल (1800 ई. से पूर्व)
2. प्रारंभिक मुद्रण— काल (1801 ई. से 1888 ई.)
3. ग्रियर्सन— काल (1888 ई. से 1910 ई.)
4. ग्रियर्सनोत्तर— काल (1910 ई. से 1941 ई.)
5. वर्तमान— काल (1942 ई. के बाद.)

डॉ. सियाराम तिवारी ने इसे चार भागों में विभक्त करते हुए मुद्रण पूर्व— काल एवं प्रारंभिक मुद्रण— काल को ग्रियर्सन— काल में समाहित कर दिया क्योंकि इन कालों में पाठालोचन की प्रवृत्तियां बहुत स्पष्ट नहीं हुई थीं ³ —

1. ग्रियर्सन पूर्व— काल (उन्नीसवीं सदी का अंतिम चरण)
2. ग्रियर्सन— काल (1888 ई. से 1910 ई.)
3. ग्रियर्सनोत्तर— काल (1910 ई. से 1941 ई.)
4. वर्तमान— काल (1942 ई. से अब तक)

इसी क्रम में डॉ. मिथिलेश कान्ति, डॉ. विमलेश कान्ति ने पाठालोचन के काल विभाजन को मूलतः दो भागों पुनः चार उपभागों में विभक्त किया ⁴ —

1. प्राचीन युग (उन्नीसवीं सदी के पूर्व)
2. आधुनिक युग (उन्नीसवीं सदी के उपरांत)
 - (क) पूर्व ग्रियर्सन— काल (1800 ई. से 1887 ई.)
 - (ख) ग्रियर्सन— काल (1888 ई. से 1911 ई.)
 - (ग) ग्रियर्सनोत्तर— काल (1912 ई. से 1940 ई.)
 - (घ) आधुनिक— काल (1941 ई. से अब तक)

यह तीनों ही काल विभाजन नामकरण में किंचित् भेद के साथ प्रायः समान ही हैं। इस लेख में अध्ययन की सुविधा के लिए डॉ. कन्हैया सिंह द्वारा प्रतिपादित काल विभाजन का पालन किया गया है।

1. मुद्रण पूर्व— काल (1800 ई. से पूर्व) —

मुद्रण कला के आविष्कार से पूर्व पाठ हस्तलिखित प्रतिलिपियों के माध्यम से प्रसारित—प्रचारित होता था। प्रतिलिपिकार सुन्दर अक्षरों में ग्रन्थों की प्रतिलिपियां तैयार करते थे। इसमें चित्रकारी एवं अलंकरण की निरपेक्ष प्रवृत्ति मिलती है। कई बार प्रतिलिपिकारों द्वारा विभिन्न प्रतियों के पाठों के विनियोग से किसी रचना का शुद्ध पाठ या मूल पाठ तैयार करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है। इस प्रवृत्ति को हिन्दी पाठालोचन का प्रारम्भ कह सकते हैं। इस काल की सामान्य प्रवृत्ति अधिकतर पाठ प्रस्तुत करने की है। फलस्वरूप एक प्रति के प्रक्षेप दूसरी प्रति में आग्रह के साथ स्वीकार किए गए। इससे पाठ वृद्धि के साथ—साथ पाठ मिश्रण भी खूब हुआ। पृथ्वीराज रासो के चार रूपान्तर — लघुतम (450 छन्द), लघु (1100 छन्द), मध्यम (3300 छन्द), बृहद् (10,500 छन्द), संभवतः इसी प्रवृत्ति के परिणाम हैं।

रासों के छंदों का संकलन कई बार हुआ है, जिनमें चन्द्रसिंह या चन्द्रनन्द, कवि कक्का एवं अमरसिंह के प्रयास प्रमुख हैं। राजा अमरसिंह (संवत् 1658 वि. से 1676 तक) ने कवि

कक्का द्वारा संभवतः 1671 वि. में 'पृथ्वीराज रासो' का पाठ संपादन सम्पन्न कराया था। रासो की एक प्रति नेशनल गैलरी ऑफ़ माडर्न आर्ट, भारत सरकार के पास है। इसमें राजा रयनसी समय और विवाह समय के बीच विज्ञप्ति दी हुई है, इसी छन्द में कक्का कवि द्वारा श्रमपूर्वक पुस्तक तैयार करने की बात कही गई है— 'इहि विधि संख्या गुनिय कहै कका कवि यानै /पालियै जतन पुस्तक पवित्र लिखि लेखक विनती करय।'⁵ इतने प्राचीन काल में पाठशोध की प्रवृत्ति इस बात को सूचित करती है कि ग्रंथों के देश भारत में पाठालोचन का कार्य कोई नया नहीं है। विद्यानुरागी राजाओं के संरक्षण में यह कार्य विद्वानों द्वारा सम्पन्न कराया जाता रहा है। इसी प्रकार चन्द्रसिंह ने भी 'पृथ्वीराज रासो' के पाठ का उद्धार किया था, निम्नांकित पंक्तियों से यह स्पष्ट है—

'रघूनाथ चरित हनुमंत कृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।

पृथ्वीराज सुजसु कविचंद्र कृत चंद्रसिंह उद्धरिय तिमि।।'⁶

मुद्रणपूर्व काल में पाठांतर के उल्लेख की प्रवृत्ति भी मिलती है। रासो की प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में 'तथा अउर पाठान्तर' शब्दावली प्राप्त होती है। इसी प्रकार 'पदुमावती' की प्राचीन प्रतियों में भी पाठांतर का उल्लेख है। प्रतिलिपिकारों द्वारा कई प्रतियों से मूल पाठ का अनुसंधान करते हुए छन्दों की पुनरावृत्ति भी हुई है, 'बीसलदेव रासो' तथा 'दादूदयाल की बानियों' के एक प्राचीन सम्पादित ग्रंथ (सं. चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी) में छन्दों एवं बानियों की पुनरावृत्ति बहुतायत से हुई है।

कुछ अन्य प्रवृत्तियां भी प्राचीन प्रतियों में मिलती हैं, जो एक प्रकार से पाठालोचन के प्रयास को इंगित करती हैं— 'बिहारी सतसई' की उपलब्ध सभी प्रतियों को चौदह क्रमों में सजाने की प्रवृत्ति, 'कबीर की एक विषिष्ट षाखा की प्रतियों में अंगों के नाम से षीर्षक देने की प्रवृत्ति, जायसी के पद्मावत की प्रतियों में पाठान्तर देने की प्रवृत्ति, चतुर्भुजदास की मधुमालती, जो शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य है, वैष्णव सिद्धान्तों की कलई करने की प्रवृत्ति आदि भी सम्पादन के प्रयासों के अन्तर्गत ही आती है।'⁷

2. प्रारंभिक मुद्रण — काल (1800 ई. से 1888 ई.) —

भारत में मुद्रण का काल उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में आरम्भ हुआ। आरम्भ में मुद्रण का कार्य छापाखानों में होता था। लीथो में पत्थर की पट्टी पर हाथ से अक्षर उत्कीर्ण कर लिए जाते थे तथा उन्हीं से छपाई का कार्य होता था। प्रारम्भ में अक्षर एक दूसरे से मिलाकर लिखे जाते थे, बाद में धीरे-धीरे 'मानस' की पोथियों में चौपाई तो एकसाथ लिखी जाती रही, किन्तु दोहा या अन्य छन्द अलग पंक्ति में।

आरम्भिक युग के पाठ संपादकों ने इस प्रकार की लीथो मुद्रित प्रतियों को हस्तलिखित प्रतियों के रूप में प्रयुक्त किया है। इस युग के मुद्रणालयों में भारत जीवन प्रेस काशी, चन्द्रप्रभा प्रेस लखनऊ, खड्गविलास प्रेस बांकीपुर (पटना), बंगवासी प्रेस कलकत्ता, वेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई, और वेलवेडियर प्रेस इलाहाबाद उल्लेखनीय हैं। इन मुद्रणालयों का उद्देश्य

व्यावसायिक था। किसी ग्रंथ के पाठालोचन का प्रयास इन्होंने नहीं किया, साथ ही पुस्तकों के संपादक का नाम भी कम ही दिया। केवल प्राप्त हस्तलिखित दुर्लभ ग्रंथों का प्रकाशन किया। यद्यपि यह भी इनका महत्वपूर्ण साहित्यिक योगदान है क्योंकि उस समय जब प्राचीन ग्रंथों का दर्शन ही दुर्लभ था या पुस्तकों के अंशमात्र ही उपलब्ध थे, ऐसे में पुस्तकों को उपलब्ध कराना बड़ा कार्य था। जिन ग्रंथों को एक ही प्रति के आधार पर प्रकाशित किया गया, उनमें कम से कम एक षाखा का पाठ सुरक्षित रहा, जिन ग्रंथों के संपादन में एकाधिक षाखाओं की प्रतियों का उपयोग किया गया उनमें पाठ मिश्रण अधिक होने से उनकी उपयोगिता संदिग्ध है। इस काल में मूलतः 'रामचरितमानस' एवं 'पदुमावती' का पाठालोचन और प्रकाशन हुआ। सबसे पहले षम्भुनारायण चौबे ने अत्यन्त परिश्रम से मानस की प्रतियों की जानकारी प्राप्त कर उनके आधार पर एक लेख लिखा जो अब नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'मानस अनुषीलन' नामक ग्रंथ में संकलित है। तत्पश्चात् लल्लूलाल के संस्कृत यंत्रालय, काशी, मुकुन्दीलाल के छापाखाना, कलकत्ता और नवलकिषोर प्रेस, लखनऊ से मानस की प्रतियां प्रकाशित हुईं। सन् 1868 में पं. रामजसन मिश्र ने मानस का संस्करण सम्पादित किया। उन्होंने 1884 में पदुमावती का भी सम्पादन किया। यद्यपि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. ग्रियर्सन ने उनके काम को महत्व नहीं दिया क्योंकि उन्होंने ग्राम्य भाषा के षब्दों को संस्कृत उच्चारण और संस्कृत व्याकरण के ढांचे में ढालने का प्रयास किया था, फिर भी यह कहने में संदेह नहीं कि उस युग में पं. रामजसन मिश्र ने दिषा निर्देश दिया था। 'पं. रामजसन मिश्र इस काल के सबसे मेधावी पाठानुसंधाता थे। उनके पाठों में कुछ मूलभूत दोषों के होते हुए भी वह षक्ति और प्रेरणा दिखाई देती है, जिसने आगे चलकर भागवतदास छत्री और डॉ. ग्रियर्सन जैसे पाठ संपादकों को उचित दिषा प्रदान की।'⁸

डॉ. सियाराम तिवारी के अनुसार इस काल के पाठालोचन की निम्नांकित विशेषताएं हैं ⁹—

1. पाठ की प्रामाणिकता पर जितना ध्यान नहीं है उतना उसके बृहत्तम रूप पर। इस तरह इस युग में प्रक्षेप दोष नहीं, गुण था।
 2. पाठ—सुधार या दृच्छिक रूप में हुआ।
 3. तद्भव षब्दों के स्थान पर तत्सम षब्द रखने की प्रवृत्ति देखी जाती है।
 4. एक ही प्रति के आधार पर पाठ प्रस्तुत किया गया।
3. ग्रियर्सन— काल (1888 ई. से 1910 ई.) —

इस काल में पाठालोचन की प्रक्रिया और आगे बढ़ी। अब सम्पादन और पाठषोध की दिषा में हस्तलिखित प्रतियों के साक्ष्य पर विशेष बल दिया जाने लगा। एक नई सोच विकसित हुई कि जिस पाठ की कोई भी प्रति उपलब्ध न हो उसे स्वीकार न किया जाए। इस काल में रचनाओं के भाषा रूप को मूल प्रति जैसा सुरक्षित रखने पर विशेष बल दिया गया। देशज षब्दों को संस्कृत षब्दों से स्थानापन्न करने की प्रवृत्ति को अनुचित ठहराते हुए इसका त्याग

किया गया। इस काल तक प्राचीन साहित्य अत्यन्त तीव्र गति से लोगों के सम्मुख मुद्रित रूप में आने लगा था। नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दुस्तानी एकेडमी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा प्रयाग विश्वविद्यालय आदि संस्थाओं ने इन ग्रंथों के पाठालोचन का विशेष प्रयास किया। व्यक्तिगत तौर पर कार्य करने वाले इस काल के तीन प्रमुख पाठालोचक हैं—भागवतदास छत्री, डॉ. अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन एवं लाला भगवान दीन।

भागवतदास छत्री ने सर्वप्रथम हिन्दी पाठालोचन में वैज्ञानिक दृष्टि का उन्मेष किया। 'रामचरितमानस' के प्राप्त सभी प्रकाशित संस्करणों तथा महत्वपूर्ण हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर उन्होंने मानस का अपना एक संस्करण 1885 ई. में सरस्वती मंत्रालय, काशी से प्रकाशित कराया। उन्होंने अपने पाठ को पूर्णतः प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों पर केन्द्रित रखा और किसी भी शब्द का सुधार बिना प्रतियों के साक्ष्य के नहीं किया। साथ ही मूल पाठ के साथ प्रामाणिकता पूर्वक उन्होंने अन्य प्रतियों का पाठान्तर भी दिया। उन्होंने मानस की विभिन्न हस्तलिखित प्रतियों में मिलने वाले पाठों का एक तुलनात्मक पाठ भी प्रस्तुत किया। इस तरह से उनके द्वारा संपादित मानस का संस्करण सर्वाधिक शुद्ध और प्रामाणिक माना गया। इस पाठ को उस युग में इतनी स्वीकृति मिली कि इसी आधार पर कई मुद्रणालयों ने मानस के गुटके और बृहद् आकार के संस्करण छापे। मानस के परवर्ती पाठालोचक षंभुनारायण चौबे ने इनकी प्रशंसा में लिखा है कि 'पाठ शुद्ध करने वालों में काशी—मुहल्ला छोटी पिय

?री के बाबू भागवतदास जी छत्री का नाम अग्रगण्य है। इन्होंने बहुत बड़ा काम किया है और आज भी लोग इनकी प्रति को प्रमाण मानते हैं।'¹⁰

भागवतदास की ही तरह जिस दूसरे व्यक्ति ने पाठालोचन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया वह थे डॉ. अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन। ग्रियर्सन अंग्रेज थे किन्तु भारतीय ज्ञान के प्रति जिज्ञासु होने के कारण उन्होंने भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया और कई महत्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन किया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'भाषा सर्वेक्षण' आदि पुस्तकों का प्रकाशन तो अंग्रेजी में हुआ, किन्तु सम्पादन में भूमिकाओं को छोड़कर मूल पाठ हिन्दी में देना आवश्यक था। इसके लिए वे पं. सुधाकर द्विवेदी से सहायता लेते थे। डॉ. ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम 1888 में लल्लूलाल द्वारा तैयार 'लाल चन्द्रिका' के आधार पर 'बिहारी सतसई' का सम्पादन किया जो रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से प्रकाशित हुई। 'लाल चन्द्रिका' बिहारी सतसई की आजमषाही क्रम की टीका है। इसे हरजूमिश्र नामक कवि ने आजमगढ़ाधीष आजमखां या आजमषाह के लिए तैयार की थी। वास्तव में यह संस्करण 'लाल चन्द्रिका' के प्रथम संस्करण का कुछ-कुछ पाठ सुधार के साथ पुनर्मुद्रण मात्र था, अतः इसमें पाठालोचन की संभावना कम ही है।

ग्रियर्सन की दूसरी पुस्तक 'मानस रामायण' है जो मूलतः 'रामचरितमानस' पर आधारित है और 1889 में खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित है। यद्यपि षंभुनारायण चौबे ने इस संस्करण की बहुत प्रशंसा की है किन्तु आज यह अनुपलब्ध है। ग्रियर्सन का

तीसरा महत्वपूर्ण कार्य 'पदुमावती' का सम्पादन है। यह पांच भागों में रायल एषियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल से वर्ष 1896 से 1911 के मध्य प्रकाशित हुआ। ग्रियर्सन के असामयिक निधन के कारण इसके कुल 286 छन्द प्रकाशित हो पाए थे। बाद में माताप्रसाद गुप्त ने इसके 274 छन्द ही प्रामाणिक माने थे। इस कार्य में ग्रियर्सन ने पं. सुधाकर द्विवेदी की सहायता ली थी। ग्रियर्सन ने इस संस्करण में छह पृष्ठों की एक भूमिका अंग्रेजी में लिखी, जिसमें उन्होंने पाठालोचन के लिए जिन आधारभूत साधनों और सिद्धान्तों का प्रयोग किया, उनकी चर्चा की। इसमें मूलपाठ, कठिन शब्दों के अर्थ और पाठ की टीका देवनागरी में है। टीका पं. सुधाकर द्विवेदी द्वारा लिखी गई है और इसीलिए इसे 'सुधाकर-चन्द्रिका' भी कहा जाता है।

'पदुमावती' के इस सम्पादन के लिए ग्रियर्सन ने फ़ारसी लिपि की चार, देवनागरी लिपि की दो और कैथी लिपि की तीन प्रतियों का प्रयोग किया था। इनमें से कैथी लिपि की प्रतियों का पाठ बहुत ही भ्रष्ट था अतः उनका प्रयोग केवल तुलना के लिए किया गया। फ़ारसी लिपि की एक प्रति ('इण्डिया ऑफिस लाइब्रेरी, फ़ारसी कैटलॉग नं. 1975 स. 1109 हि. अर्थात् 1697 ई.' की प्रति) को आधार मानकर ग्रियर्सन ने बाकी प्रतियों से तुलना करते हुए अपना संस्करण निर्मित किया। इसमें उनका सर्वाधिक श्रेय है—जायसी की भाषा के सुष्ठु रूप और वास्तविक निखार को उजागर करना। पं. रामजसन मिश्र द्वारा ग्रामीण अवधी के स्थान पर संस्कृत शब्दों के प्रयोग से जायसी की भाषा को जो हानि हुई थी, ग्रियर्सन ने उसका यथासंभव निराकरण करने का प्रयास किया। यद्यपि वर्षों पश्चात् माताप्रसाद गुप्त ने ग्रियर्सन के श्रम की उपेक्षा करते हुए कहा—'सम्पादन के सम्बन्ध में ग्रियर्सन ने दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। एक तो यह कि उन्होंने प्रायः प्रतियों का बहुमत ग्रहण किया है और दूसरा यह कि द्वि. 3 (1109 हि. वाली प्रति) के पाठ को उन्होंने सामान्यतः ग्रहण किया है और उसे आधार प्रति माना है। इन दोनों सिद्धान्तों के द्वारा प्राप्त परिणामों पर विचार कर लेना चाहिए।.....कहने कि आवश्यकता नहीं कि उनके ये दोनों सिद्धान्त वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक नहीं थे। प्रामाणिक पाठ—निर्णय के सम्बन्ध में सम्पादन—विज्ञान के जो सिद्धान्त हैं, उनसे ग्रियर्सन अपरिचित ज्ञात होते हैं।' ¹¹

डॉ. मिथिलेश कान्ति, डॉ. विमलेश कान्ति ने भी अपनी पुस्तक 'पाठालोचन: सिद्धान्त एवं प्रक्रिया' में माताप्रसाद गुप्त के मत को सही ठहराया है। ¹² जबकि स्वयं माताप्रसाद गुप्त और अन्य परवर्ती पाठालोचकों पर ग्रियर्सन का प्रभाव प्रत्यक्ष है। यह सत्य है कि उनके इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर वैज्ञानिक सम्पादन संभव नहीं, फिर भी हिन्दी पाठालोचन सदैव ग्रियर्सन के प्रयासों का ऋणी रहेगा।

4. ग्रियर्सनोत्तर— काल (1910 ई. से 1941 ई.) —

इस काल में हिन्दी की महत्वपूर्ण संस्थाओं विशेषकर नागरी प्रचारिणी सभा, काशी एवं हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद तथा कुछ विद्वानों द्वारा पाठालोचन का कार्य प्रमुखता से

हुआ। हिन्दुस्तानी एकेडमी द्वारा 'बेलि किसन रुकमणी री' का संपादन रामसिंह एवं सूर्यकिरण पारीक से तथा 1914 में नागरी प्रचारिणी सभा ने 'ढोला मारू रा दूहा' का संपादन रामसिंह, सूर्यकिरण पारीक एवं नरोत्तम स्वामी से करा कर प्रकाशित किया। पाठालोचकों में लाला भगवानदीन, जगन्नाथदास रत्नाकर, ध्यामसुंदर दास, रामचन्द्र शुक्ल और उमाषंकर शुक्ल आदि प्रमुख रहे। इस काल में सर्वाधिक प्रसिद्धि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को प्राप्त हुई, जितनी ग्रंथ संपादन के लिए नहीं उससे अधिक ग्रंथों की भूमिकाओं के लिए। इनमें 'तुलसी ग्रंथावली' तथा 'जायसी ग्रंथावली' की भूमिकाएं आलोचना की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखती हैं। संपादन के दृष्टिकोण से 'जायसी ग्रंथावली' में 'पदुमावती' या पद्मावत का जो पूर्ण पाठ शुक्ल जी ने प्रस्तुत किया वह निष्चय ही अब तक के पूर्ण पाठ के संस्करणों में विषिष्ट है और इसीलिए अध्ययन, अनुषीलन और षोध का आधार बनता रहा है। यद्यपि शुक्ल जी के पास 'पदुमावती' के नागरी लिपि के तीन संस्करण और कैथी लिपि की एक अत्यन्त भ्रष्ट हस्तलिखित प्रति ही थी। लाला भगवानदीन के संस्करण की उन्हें जानकारी नहीं थी। फिर भी उन्होंने जायसी की अवधी के प्रकृत स्वरूप को जिस श्रम से उजागर किया वह प्रशंसनीय है। यद्यपि शुक्ल जी पर यह आरोप भी लगते हैं कि उन्होंने संपादन के लिए उपलब्ध मुद्रित प्रतियों को एकत्र करके उनमें से ही उपयुक्त लगने वाले पाठों को ले लिया और अन्य को छोड़ दिया, साथ ही पाठ के अर्थ के लिए हस्तलिखित प्रतियों का आश्रय भी नहीं ग्रहण किया, वरन स्वेच्छा से पाठ सुधार कर दिया और उन्होंने ग्रियर्सन के पाठ को भी अस्वीकृत किया। परन्तु इससे शुक्ल जी का महत्व कम नहीं होता, साथ ही उन्होंने यह पाठ छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बड़ी जल्दी में तैयार किया था, जिसे उन्होंने अपने वक्तव्य में स्वीकार किया है और ग्रियर्सन के पाठ की उपेक्षा करने के कारण शुक्ल जी की बहुत आलोचना भी हुई है।

लाला भगवानदीन इस युग के एक प्रमुख पाठालोचक थे, जिन्होंने अपने द्वारा सम्पादित पाठ के साथ उसकी टीका भी प्रस्तुत की। वास्तव में दीन जी भाषा के प्राचीन रूपों के ज्ञाता, एक सहृदय समालोचक और भावुक कवि थे। उन्होंने प्रथमतः टीका ही प्रस्तुत करनी चाही थी, किन्तु टीका करने के लिए उपयुक्त अर्थ हेतु उपयुक्त पाठ का होना आवश्यक है, अतः दीन जी को उन रचनाओं का पाठालोचन करना पड़ा। उन्होंने भी जायसी की 'पदुमावती' का संपादन किया लेकिन यह केवल तृतीयांश तक ही हो सका। इसका प्रकाशन हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 1924 ई. में हुआ। लाला भगवानदीन का पाठ अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है—

1. उन्होंने अपने पाठ का नाम 'पदुमावती' रखा जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों द्वारा प्रमाणित है, जबकि ग्रियर्सन के पूर्व और बाद के संपादकों ने 'पद्मावत' नाम रखा था।

2. उनके द्वारा संपादित पाठ में जायसी की भाषा का ठेठपन और उसका अर्थगाम्भीर्य पूर्णतः सुरक्षित है।
3. 'पदुमावती' के अंग्रेजी टीकाकार ए. जी. शिरेफ ने दीन जी के संस्करण की प्रशंसा करते हुए उसे कहीं-कहीं ग्रियर्सन के पाठ से भी श्रेष्ठ कहा है, जबकि दीन जी द्वारा संपादित संस्करण प्रायः ग्रियर्सन की परम्परा में ही निर्मित हुआ है।

कालान्तर में उन्होंने 'बिहारी बोधिनी' नाम से 'बिहारी सतसई' का, 'केशव-कौमुदी' नाम से केशव की रचनाओं का और 'रहिमन-षतक' का भी संपादन किया।

रत्नाकर जी का नाम 'बिहारी सतसई' के संपादन के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर संपादन करते हुए पाठालोचन की समस्याओं जैसे प्रक्षेप, छंदों का क्रम, रचनाकार की संभावित भाषा आदि पर विस्तार से कार्य किया। रत्नाकर जी ने 'सूरसागर' का संपादन भी शुरू किया था किन्तु असमय मृत्यु के कारण वे इसे पूरा न कर सके और इसे नंददुलारे वाजपेयी ने पूरा किया। तत्पश्चात् ष्यामसुंदर दास ने पृथ्वीराज रासो, छत्रप्रकाश, वनिता विनोद, दीनदयाल ग्रंथावली, रामचरितमानस, परमाल रासो, कबीर ग्रंथावली, सतसई सप्तक तथा संक्षिप्त पद्मावत का संपादन किया। पाठालोचन की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है। इसमें पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति के समस्त सिद्धान्तों का पालन करने का प्रयास किया गया है। यद्यपि रासो का यह संस्करण उसके बृहद् पाठ पर आधारित है जो आज अप्रामाणिक माना जाता है, किन्तु उस समय प्राप्त प्रतियों के आधार पर ष्यामसुंदर दास का यह प्रयास प्लाघ्य है।

इनके अतिरिक्त डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा 'कबीर ग्रंथावली' का पाठालोचन एवं पं. उमाशंकर शुक्ल द्वारा सेनापति के 'कवित्त रत्नाकर' का, नन्ददास के ग्रंथों का पाठालोचन भी इसी काल में हुआ। पं. विश्वप्रसाद मिश्र ने शुरुआत तो इसी काल में की किन्तु उनके श्रेष्ठ कार्य अगले काल में सामने आए।

5. वर्तमान- काल (1942 ई. के बाद.) -

'हिन्दी अनुषीलन, वर्ष 1, अंक 3(1942 ई.) में प्रकाशित डॉ. माताप्रसाद गुप्त के एक लेख से हिन्दी पाठानुसंधान के क्षेत्र में आधुनिक काल का आरम्भ माना जाता है। इसमें उन्होंने बनारसीदास-कृत अर्द्धकथा की प्रतियों के आधार पर सम्पादन विधियों को प्रस्तुत किया है। हिन्दी- पाठानुसंधान का आधुनिक काल वस्तुतः आचार्य विश्वप्रसाद मिश्र और डॉ. माताप्रसाद गुप्त के सम्पादनों का इतिहास है।¹³ यद्यपि डॉ. कन्हैया सिंह, रत्नाकर और पं. षम्भुनारायण चौबे के सम्पादनों क्रमशः 'बिहारी सतसई' और 'श्री रामचरित मानस' से आधुनिक युग की शुरुआत मानते हुए सम्पादन की वैज्ञानिक विधि का प्रारम्भ डॉ. माताप्रसाद गुप्त से ही मानते हैं।¹⁴

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अपने पाठ संपादनों में पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक मिलान किया, नवीन पाठ की तुलना में प्राचीन पाठ को वरीयता दी और सरल पाठ की अपेक्षा जटिल

पाठ का निर्धारण किया। उनके पाठ अन्तरंग एवं बहिरंग पाठ की दृष्टि से उपयुक्त हैं। उन्होंने पाठालोचन के सभी विभागों का अध्ययन करते हुए संपाद्य ग्रंथों की मूल तथा सहायक सामग्री दोनों का संकलन और परीक्षण किया। 'पृथ्वीराज रासउ' ने अपने पाठ संपादनों में तर्क और प्रमाण दोनों का प्रयोग किया। उदाहरण के लिए 'पृथ्वीराज रासउ' के संपादन को लिया जा सकता है। 'पृथ्वीराज रासउ' एक विकसनशील काव्य रहा है, जिसमें निरन्तर क्षेपक जुड़ते रहे। पूर्व में अनेक विद्वानों के प्रयास के बाद भी उसके मूल स्वरूप को प्राप्त करना सहज नहीं रहा। डॉ. गुप्त ने 'पृथ्वीराज रासउ' में उक्ति शृंखला की परम्परा प्राप्त की और इसके संपादन में उक्ति शृंखला का उपसिद्धान्त के रूप में प्रयोग किया। इस माध्यम से उन्होंने 'पृथ्वीराज रासउ' के लघुतम संस्करण को प्रामाणिक माना। यह उक्ति शृंखला कुण्डलिया छन्द की तरह चलती है—

‘रही न रानी कैकई, अमर भई यह बात।

कौन पुरबले पाप ते, बन पठयो जग तात।

बन पठयो जग तात, कन्त सुरलोक सिधारयो।’¹⁵

तत्पश्चात् डॉ. गुप्त ने 'रामचरितमानस' के संपादन में भी एक विषिष्ट बात का अनुसंधान किया कि संभवतः तुलसीदास ने अपने जीवनकाल में मानस के चार संस्करण तैयार किए थे, जिनमें उत्तरोत्तर संशोधन स्वयं उन्होंने ही किए, उदाहरणस्वरूप मानस के एक संस्करण में एक पाठ है—'गयउ सुद्ध कहि उलटा जापू।' बाद के संस्करण में उन्हें पाठान्तर मिला—'गयउ सुद्ध करि उलटा जापू।'।

डॉ. गुप्त आजीवन ग्रंथों के संपादन में संलग्न रहे, उन्होंने करीब सोलह ग्रंथों का संपादन किया— रामचरितमानस, जायसी ग्रंथावली, बीसलदेव रासो, छिताईवार्ता, लोर कहा, मधुमालती(मंझन), पृथ्वीराज रासउ, राउरबेल और उसकी भाषा, पद्मावत, मधुमालती (चतुर्भुजदास), जिणदत्त—चरित, वसंत—विलास और उसकी भाषा, कुतुब—षतक और उसकी हिन्दुई, चांदायन (दाऊद), मृगावती (कुतुबन) और कबीर ग्रंथावली। उन्होंने न केवल हिन्दी के आदिकाल और मध्यकाल के ग्रंथों का वैज्ञानिक संपादन किया वरन पाठालोचन के क्षेत्र में अपनी एक षिष्य परम्परा भी तैयार कर ली। जिनमें डॉ. पारसनाथ तिवारी, पं. उमाषंकर शुक्ल, मिथिलेश कान्ति और विमलेश कान्ति प्रमुख हैं।

इस काल के दूसरे प्रमुख पाठालोचक काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य विष्वप्रसाद मिश्र थे। उन्होंने मुख्य रूप से रीतिकालीन रचनाओं का पाठ संपादन किया। आचार्य मिश्र ने विभिन्न प्रतियों के तुलनात्मक मिलान द्वारा इन ग्रंथों का पाठ निर्धारण किया और पाठचयन में अर्थानुसंगति को विशेष महत्व दिया। उन्होंने अपने संपादन कार्य में साहित्यिक पद्धति का उपयोग किया। उनका मानना था कि साहित्यिक ग्रंथों के लिए साहित्यिक पद्धति ही उचित है। वे पाठालोचन की वैज्ञानिक पद्धति को अचेतन पद्धति मानते हुए उसे महत्व नहीं देते थे। आचार्य मिश्र ने पाठालोचन में प्रतियों का वंशवृक्ष निर्माण, षाखा निर्धारण आदि तो नहीं

किया किन्तु प्राचीनतम पाठ, जटिल पाठ, संगत पाठ और काव्यशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त पाठ स्वीकार किया है। वस्तुतः रीतिकालीन अधिकांश साहित्य लक्षण ग्रंथों के रूप में है और मिश्र जी के काव्यशास्त्र और ब्रजभाषा के अच्छे ज्ञाता होने के कारण, उनके द्वारा किया गया पाठ संपादन मूल के निकट है।

आचार्य मिश्र की विशेष ख्याति 'रामचरितमानस' के संपादन से है जो 'काषिराज संस्करण' के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने इसके संपादन में साहित्यिक और वैज्ञानिक दोनों पद्धतियों का प्रयोग किया है और इसे गीता प्रेस संस्करण तथा माताप्रसाद गुप्त के संस्करण के कुछ पाठों की विषयानुसंगति के आधार पर संशोधित किया है। इन दोनों संस्करणों में एक पाठ इस प्रकार मिलता है—'चले मत्त गज घंट विराजी। मनहुं सुभग सावन घनराजी।।'

आचार्य मिश्र ने 'घंट' शब्द के लिए 'विराजी' किया व्याकरण की दृष्टि से त्रुटिपूर्ण बताई है। उनके अनुसार 'घंट' शब्द पुल्लिंग है तो क्रिया भी पुल्लिंग होनी चाहिए। उन्होंने इसके समाधान के लिए प्रयास किया। आचार्य मिश्र को सं. 1691 की श्रावण कुन्ज अयोध्या वाली प्रति में 'घय' पाठान्तर मिला। उन्होंने यह अनुमान किया कि लेखन विकृति के कारण 'घटा' का 'घय' हो गया है। अतः 'घटा' पाठ शुद्ध और प्रसंगानुकूल है। यह पाठ मिश्र जी ने लेखानुसंगति एवं विषयानुसंगति के माध्यम से प्राप्त किया, जो इस प्रकार है— 'चले मत्त गज घटा विराजी। मनहुं सुभग सावन घनराजी।।'

इस प्रकार मानस के मूल स्रोतों एवं हस्तलिखित प्रतियों के अध्ययन द्वारा मिश्र जी ने अनेक स्थलों पर उपयुक्त और संगत पाठ किए हैं— 'बहुदाम संवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह न रहि बिरती।।' आचार्य मिश्र ने 'न रहि' पाठ को अवध की प्रकृति से असंगत माना है, इसलिए उन्होंने पाठ प्रस्तुत किया— 'बहुदाम संवारहिं धाम जती। विषया हरि लीन्ह रही बिरती।।' अवधी में था, थी, थे सहायक क्रिया के लिए रहा, रही, रहे सहायक क्रिया प्रयुक्त होती है। यहां 'रही' क्रिया 'थी' के लिए प्रयुक्त हुई है। मिश्र जी द्वारा सम्पादित ग्रंथ इस प्रकार हैं— भूषण (ग्रंथावली), चिन्तामणि (दो भाग), घनानन्द ग्रंथावली, रसखानि, केषव ग्रंथावली खं. 1, केषव ग्रंथावली खं. 2, केषव ग्रंथावली खं. 3, भिखारीदास ग्रंथावली खं. 1, भिखारीदास ग्रंथावली खं. 2, भाषाभूषण (जसवन्तसिंह), पद्माकर ग्रंथावली, रामचरितमानस, जसवन्तसिंह ग्रंथावली, ठाकुर, नरोत्तम, बोधा ग्रंथावली, ग्वाल ग्रंथावली, देव ग्रंथावली।

आधुनिक युग में अनेक विद्वान पाठालोचन के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं जिनमें डॉ. रामगोपाल शर्मा दिनेष, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. पारसनाथ तिवारी, डॉ. सियाराम तिवारी, डॉ. कन्हैया सिंह, हरिमोहन मालवीय आदि प्रमुख हैं। यद्यपि आज पाठालोचन के महत्व को समझने वाले लोग कम होते जा रहे हैं, किन्तु यह भी सच है कि शुद्ध और प्रामाणिक पाठ की तलाश पाठालोचन से ही पूर्ण होगी। अतः पाठालोचन के क्षेत्र में और विद्वान तथा मेहनती लोगों के आने की आवश्यकता है तभी कुछ अन्य ग्रंथों के पाठ सुधार के पश्चात पाठालोचन का नया इतिहास लिखा जा सकेगा।

संदर्भ :-

1. डॉ. कात्रे एस.एम- भारतीय पाठालोचन की भूमिका (1971), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ.सं. 1
2. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठ सम्पादन के सिद्धान्त (2008), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 145
3. डॉ. तिवारी सियाराम- पाठानुसंधान (1987), स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 143
4. डॉ. कान्ति मिथिलेष और विमलेश कान्ति - पाठालोचन: सिद्धान्त एवं प्रक्रिया, पृ.सं. 154
- 163
5. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठानुसंधान (2011द्वितीय संस्करण), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 16
6. वही , पृ.सं. 18
7. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठ सम्पादन के सिद्धान्त (2008), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ.सं. 147
8. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठानुसंधान (2011द्वितीय संस्करण), पृ.सं. 35
9. डॉ. तिवारी सियाराम- पाठानुसंधान (1987), पृ.सं. 144
10. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठानुसंधान (2011द्वितीय संस्करण), पृ.सं. 40
11. वही , पृ.सं. 47
12. डॉ. कान्ति मिथिलेष और विमलेश कान्ति - पाठालोचन: सिद्धान्त एवं प्रक्रिया, पृ.सं.158
13. डॉ. तिवारी सियाराम- पाठानुसंधान (1987), पृ.सं. 147
14. डॉ. सिंह कन्हैया-पाठानुसंधान (2011द्वितीय संस्करण), पृ.सं. 74